

International Journal of Multidisciplinary Trends

E-ISSN: 2709-9369

P-ISSN: 2709-9350

www.multisubjectjournal.com

IJMT 2020; 2(2): 68-71

Received: 04-05-2020

Accepted: 17-06-2020

डॉ. नीरव अडालजा

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
डॉ. भीम राव अम्बेडकर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,
भारत

दलित साहित्य और सामाजिक व्यवस्था

डॉ. नीरव अडालजा**प्रस्तावना**

साहित्य मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में विचारों एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति से सौन्दर्य का निर्माण होता है। इस अभिव्यक्ति के समय साहित्य में जीवन के शाश्वत मूल्य व्यक्त होते हैं। अर्थात् जीवन से साहित्य निर्माण होता है और साहित्य में जीवन का मूल्यांकन होता है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवन ही साहित्य का मूलाधार है।

साहित्य जीवन की प्रेरणादायी शक्ति है। जीवन की प्रेरक शक्ति ही साहित्य का सही प्रयोजन है। क्योंकि जीवन में संघर्ष है, इस संघर्ष से जीवन सम्बन्धी आस्था बनाये रखने में साहित्य सहायक होता है। व्यक्ति जीवन में जैसे यह घटित होता है उसी प्रकार समाज जीवन में भी घटित होता है, क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति से ही समाज बनता है और उसी कारण व्यक्ति जीवन का संघर्ष समाज जीवन का संघर्ष बनता है। यह संघर्ष निरन्तर चलता रहता है तथा इस संघर्ष से ही मानव जीवन का लगातार विकास होता रहता है। इस विकास के लिए ही साहित्य सृजन की आवश्यकता होती है।

मानव चिंतन और सृजन के प्रति सदैव सजग रहा है। मानव ने अपने चिंतन और सृजन के द्वारा करोड़ों वर्षों की यात्रा की है। मानवीय गरिमा उसकी इस संघर्षपूर्ण यात्रा में सदैव सहयोगी रही है। इसी कारण मानव ने विवेक की प्रतिष्ठा में निरन्तर अपनी विवेकपूर्ण कर्मठ संकल्प-शक्ति द्वारा अविवेक के तिमिर को समाप्त ही नहीं किया, अपितु मानव की सार्थकता, प्रतिष्ठा, मूल्यवत्ता, आस्था, विवेकशीलता, स्वतंत्रता, समानता, कर्मठता, आदि को नूतन दिशाओं भी प्रदान की हैं।

मानवीय गरिमा और मानव की प्रतिष्ठा का प्रश्न युगीन जीवन पद्धतियों की जीवन्त अवधारणा है। मानव ने अपनी गरिमा और प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए घोर संघर्ष किया है। उसने विविध प्रकार से जीवन-निर्वाह की पद्धतियों का निर्माण किया। मानव ने कला, साहित्य, संगीत और विविध प्रकार की सांस्कृतिक लोक-कलाओं का निर्माण किया। मानव ने कबिलाई संस्कृति से लेकर आदिवासी गीतों में अपनी गरिमा को अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया।

विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में मानव दुःख-सुख आह्लाद को गीतों के माध्यम से अथवा साहित्य एवं कलाओं के माध्यम से प्रकट किया है। प्राचीन कबीलों, मूल जातियों, अछूत जातियों एवं आदिवासियों के सामूहिक गीत, लोकगीत, संघर्षगीत, प्रेमगीतों एवं साहित्य तथा कलाएं इसका ज्वलंत प्रमाण हैं। हिंदी दलित साहित्य अथवा हिंदी अछूत साहित्य – अछूतों द्वारा अछूतों के दुःख-सुख, शोषण, विरोध, स्वतंत्र्य एवं मानवीय गरिमा के विशाल वैचारिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियों पर लिखा गया अनुभूतिपरक ईमानदारी का ज्वलंत विकास है। अतः आज इस साहित्य को मूल्यांकन की दृष्टि से संपूर्ण शताब्दी के कोड में रखना समीचीन है। इस दलित, अछूत, उपेक्षित, शोषित एवं सर्वहारा वर्ग का लिखा साहित्य गत समग्र शताब्दी के परिदृश्य में इनके शोषण और अत्याचार के साथ-साथ संघर्ष की अभिव्यक्ति का सबल एवं सार्थक निदर्शन है। दलित साहित्य के विकास के लिए हिंदी क्षेत्र एवं अन्य प्रांतों की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं विश्व की वैचारिक उथल-पुथल की परिस्थितियां उत्तरदायी हैं। प्रत्येक साहित्य का प्रेरणा स्रोत युगीन परिस्थितियां होती हैं। हिन्दी दलित साहित्य भी युगीन परिस्थितियों के विकसन का प्रमाण है। हिन्दी दलित साहित्य के प्रारंभिक प्रेरणास्रोत निम्नलिखित हैं जो कि तत्कालिक परिस्थितियों से विकसित हुए –

(अ) भूगि लूट,

(आ) संपत्ति दोहन,

(इ) पंचायती न्याय व्यवस्था से निष्कासन,

(ई) बेगारी प्रथा का प्रारंभ,

(उ) इतिहास लेखन एवं व्याख्या में पक्षपात,

(ऊ) सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक जीवन में उपेक्षा,

(ए) लोकजीवन में शुद्ध एवं नीच बनाने की प्रक्रिया।

उपरोक्त समग्र शताब्दि का विद्रोह दलित साहित्य के नाम से अछूत जातियों में धीरे-धीरे विकसित होता रहा, जो उचित परिस्थितियां पाकर अभिव्यक्ति के रूप में अटूट धारा प्रवाह की भांति जनमानस

Corresponding Author:**डॉ. नीरव अडालजा**

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
डॉ. भीम राव अम्बेडकर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,
भारत

में उमड़ने लगा।

स्वातंत्र्योत्तर भारतवर्ष में दलित साहित्य की प्रेरणास्रोत डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की सामाजिक क्रांति की संकल्पना है। डॉ. अम्बेडकर का जातिविहीन समाज का विकास इस साहित्य के लिये पीयूष – निर्झरणी का कार्य कर रहा है।

“अंबेडकरवादी प्रजातन्त्र के प्रत्येक व्यक्ति को सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक एकता ही गारंटी होगी! किसी व्यक्ति का जन्म किस धर्म, जाति, कुल, वंश आदि में हुआ है इसका इन समानताओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। तब अंबेडकरवादी प्रजातंत्र के संक्रमण के दौर में ही व्यक्तिगत विकास के मार्ग बन जायेंगे तथा सभी तरह के जाति, वंश, गोत्र, रक्त, रंग आदि के भेद तथा विद्वेष समाप्त हो जायेंगे, पुरोहितवादी प्रजातंत्र में अंबेडकरवादी प्रजातंत्र तक के संक्रमण में आधारभूत प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ेगा।”¹ अतः दलित समाज एक संक्रमण युग से गुजर रहा है। दलित व्यक्ति का स्वातंत्र्य एवं जीवनमूल्य भी संक्रमण की स्थिति में है। दलित साहित्य इससे अछूता नहीं है। यह युगीन विचारों, परिस्थितियों एवं राजनैतिक उथल-पुथल से प्रेरणा लेकर दलितों द्वारा लिखे जाने वाले दलित जीवन की जीवंत अभिव्यक्ति के रूप में विकसित हो रहा है।

यह निर्विवाद है कि दलित साहित्य का आन्दोलन डॉ. अम्बेडकर की दार्शनिक चेतना को लेकर आगे बढ़ता है। इसमें भी दो राय नहीं हो सकती कि भारतीय जनमानस को कुछ समस्याएं विरासत में मिली हैं। वर्ण व्यवस्था के कारण छुआ-छूत आदि इनमें से एक है। वर्ण तथा वर्गीय समाज व्यवस्था की एक प्रदीर्घ परम्परा विकसित होती रही है, जिसको समाप्त करने के प्रयास विभिन्न कालों में विभिन्न सुधारवादियों द्वारा किये गये। यह बात और है कि यह विभेद मिटने के बजाय और अधिक विस्तृत होता गया। डॉ. अम्बेडकर का प्रथम प्रहार वर्ण व्यवस्था पर था। डॉ. अम्बेडकर राजनीतिज्ञ के साथ-साथ समाज सुधारक भी थे। ऐसी दशा में डॉ. अम्बेडकर को दलितों ने अपना मसीहा मान लिया।

विश्व का मानव समूह – कबीलों, वर्गों, समाजों, वंशों और रंगों में विभाजित है। भारतीय समाज इन सबसे अलग और निराली अथवा स्वार्थमयी संरचना से अनजाने ही जुड़ गया है। भारतीय हिंदू समाज के विभाजन और उसके पुष्टीकरण के लिए हजारों ग्रंथों की रचना की गई है जिनमें अनेक प्रकार की कल्पनाओं के द्वारा आधारहीन विचित्र प्रकार की मनगढ़ंत कहानियां, किस्से, कथाएं और घटनाएं बना ली गई हैं। वर्णव्यवस्था, जातिभेद, चातुर्वर्ण की कल्पना भारतीय हिन्दू समाज की संरचना है। इसमें ‘जाति’ शब्द की उत्पत्ति और विकास की अलग ही कहानी है।

“ये कोई भी कह सकता है कि मेरी यह जाति है और मैं इस जाति का हूँ। मानव जाति से बंधा है और जाति मानव के साथ अंकित या मुद्रित है। मनुष्य कहीं भी जाएगा, उसको जाति नहीं छोड़ेगी। अंग्रेजी में जाति के लिए कोई शब्द नहीं है, परन्तु पुर्तगालियों ने इसके लिए ‘कास्त’ (casta) शब्द गढ़ा।”² “जाति कोई वर्ग (class) नहीं है। जाति का अर्थ रंग भी नहीं है। जाति का अर्थ आर्य और अनार्य भी नहीं और न ही किसी व्यवसाय से जुड़ी हुई।”³ जाति हिन्दुओं के अलग-अलग रहने का या जीवनयापन करने का कोई मार्ग नहीं है। शताब्दियों से ये देखा गया है कि किसी भी जाति का व्यक्ति कोई भी काम कर सकता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। जाति एक जादुई घेरा है, किसी भी जाति, वर्ग और समूह की संपत्ति पर अधिकार प्राप्त करने का सहज मार्ग है। जातियों, उपजातियों और जाति-समूहों में वैमनस्य पैदा करके उनकी सम्पत्ति पर अधिकार करना – वर्णव्यवस्था, चातुर्वर्ण और जातिभेद का प्रमुख लक्ष्य रहा है। जातिभेद का ये माया जाल किस जाति, उपजाति और व्यक्ति को फांस लेता है, उसका सर्वस्व नाश कर देता है। अछूत जातियों के अविकसित और पिछड़ा होने का यही कारण

है। भारतीय मुस्लिम, ईसाई, सिख, जैनी और पारसी भी इसके कुप्रभाव से नहीं बच सके। इन धर्मों ने भी ‘जाति’ को अपना लिया।

यदि ‘जाति’ की उत्पत्ति पर विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि ये दक्षिणायन ब्राह्मणों की कल्पना का एक बहुत बड़ा जाल था। जो सम्राट अशोक के समय में ब्राह्मण नीलगिरी की पहाड़ियों में छिप गये थे, ताकि बौद्ध धर्म के संसर्ग में आकर बौद्ध न हो जाएं। किसी धर्म, जाति, समाज या वर्ग पर जब अपनी अस्मिता को बचाने का प्रश्न उठता है या अस्मिता की बात आती है तब वह अपनी सुरक्षा की रणनीति बनाता है। ब्राह्मणों ने नीलगिरी की पहाड़ियों में छिपकर इस तरह का साहित्य लिखा जिसमें यह व्यवस्था की गयी कि ब्राह्मण को श्रेष्ठ बनाकर अन्य वर्ण उसकी देखभाल करें, उसकी रक्षा करें। वह उन तीनों वर्ण – श्रत्रिय, वैश्य, शुद्र की भी चल-अचल संपत्ति और गौरव को आसानी से अपहृत कर सकें। जातिभेद के साथ-साथ छूत-अछूत, ऊँचा-नीचा तथा उपेक्षा की अनेक विषमताएं भारतीय समाज को हिंदू धर्म, आर्य धर्म, सनातन धर्म, वैदिक धर्म तथा ब्राह्मण धर्म के नाम से साधु-सन्यासी, पुरोहित और ज्योतिषियों के माध्यम से विकसित की। इसी कारण जातिभेद, वर्णव्यवस्था, छुआछूत और चातुर्वर्ण का शोषण-चक्र दक्षिणी भारत के द्रविण समाज में तेजी से विकसित हुआ। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक प्रकार की कुप्रथाएं समाज में विकसित हुईं, जैसे- देवदासी, बेगारी या वेदप्रथा आदि। जाति दक्षिणी भारत की उपज है जिस प्रकार की ‘भक्ति द्रविण उपजी लाए रामानंद’ ठीक उसी प्रकार ‘जाति दक्षिण उपजी उत्तर लाए साधु-संत। चार द्वीप नौ खंड ने किया ज्ञान का अंत।’ उत्तरी भारत किसान, व्यापारी, सैनिकों और दस्तकारों से भरा पड़ा था। निरन्तर विदेशों से लोग आ रहे थे। न कोई जाति थी और न भेद ही। आगरा – मथुरा के जाटव-चमार व्यापारी सिंध होते हुए अपना व्यापार मिन्न तक करते थे। कहीं जाति भेद का या किसी की संपत्ति छीनने का या देवदासी बनने का कोई भी प्रमाण नहीं है। दक्षिणी भारत के ब्राह्मणों ने सदैव के लिए जातिभेद, वर्णव्यवस्था और चातुर्वर्ण बनाकर सदैव अर्थात् सनातन के लिए अपनी सुरक्षा कर ली। पिछली 10-15 शताब्दि इसका प्रमाण है।

एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर कोई भी अमानुषिक दोष थोपना एक अमानवीय कृत्य है। भारतीय समाज में कुछ पढ़े-लिखे और चालाक लोगों ने कुछ लोगों को उपेक्षित करने के लिए एक व्यवस्था की जो कि कालांतर में धार्मिक ग्रंथों और प्रचार-प्रसार के द्वारा ‘वर्णव्यवस्था’ अथवा ‘चातुर्वर्ण’ के नाम से जानी जाने लगी। इस व्यवस्था को कारगर बनाने के लिए शताब्दियों से एक साहित्य निर्मित किया जाने लगा जो सिर्फ हिन्दुओं के एक वर्ग ने दूसरे वर्ग के शोषण के लिए निर्मित किया। इनमें मनुष्यों के एक समूह को निम्न, नीच, क्षुद्र, उपेक्षित, सेवक तथा शुद्र के नाम से लिखा जाता रहा, प्रतिबंधित तथा एकपक्षीय था। इस एकपक्षीय साहित्य ने शूद्र से आगे बढ़कर अछूत समाज का निर्माण किया और उसको सबसे पहले – शिक्षा, पुरोहित, कार्य, संपत्ति का अधिकार और अभिव्यक्ति के अधिकार से वंचित करने का शताब्दियों से निरन्तर प्रयास किया। भारतवर्ष में एक बहुत बड़े वर्ग को अछूत बनाकर अक्षम करार देने का एक बड़ा दुष्कर्म था जो शताब्दियों से होता रहा है।

यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं की जजमानी प्रथा के अधीन अछूत समाज नहीं था। अनेक स्थानों पर जाटव और धीमर तथा अन्य जातियों के राज्य थे, छोटी जमींदारी थीं। अनेक स्थानों पर अछूत जातियों पर भूधारी थे जो सवर्ण हिंदुओं, पिछड़े वर्ग तथा मुस्लिम आदि से बेगार भी कराते थे। कुछ स्थानों पर अछूत जमींदारों ने बेगार न लेने का प्रण किया हुआ था। इससे स्पष्ट होता है कि हिंदुओं की जजमानी प्रथा के अन्तर्गत किसी भी युग में सभी अछूत समाज नहीं था। जहां हिन्दू पुरोहितों का दबाव

अधिक था वहीं जजमानी प्रथा अछूत समाज का शोषण कर रही थी। अन्य स्थानों पर अछूत जातियों जमींदारी, किसान, व्यापार तथा अन्य व्यवसायों में रत थीं। अनेक स्थानों पर अछूत जातियों के पुरोहित अलग थे और अलग ही मन्दिर थे। कहीं-कहीं पर इनके पर्व, त्यौहार एवं मेले सवर्ण हिन्दुओं से अलग थे। इस प्रकार हिन्दू समाज की भाषा संस्कृत थी, वहीं अछूत जातियों की भाषा – लोकभाषा, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, नागभाषा (ब्रज), चमरवा (हरियाणवी), छत्तीसगढ़ी (सोलहघर चुमारों की भाषा) मगही, मागधी, पहाड़ी एवं कौरवी, डिंगल आदि थी। संपूर्ण अछूत समाज के उन्नतिशील लोग इन भाषाओं का प्रयोग करते थे। इनका लोकजीवन इन्हीं भाषाओं से जुड़ा था। कुछ प्रबुद्ध एवं अछूत वर्ग के लोग संस्कृत भाषा भी जानते थे और ज्योतिष, वैद्यक, जादू, तंत्र-मंत्र एवं अन्य संस्कारों के विशेषज्ञ होते थे।

सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण स्वातंत्र्योत्तर भारत का सम्पूर्ण ढांचा ही बदल रहा था। जाति के बंधन सामाजिक, राजनैतिक वातावरण के कारण ढीले पड़ने लगे। अब समाज ने नई संसदीय प्रणाली ग्रहण की तो उसमें सभी की प्रगति के द्वार खुले – सभी के लिए शिक्षा, छूआछूत उन्मूलन और आर्थिक अभिवृद्धि के लिए पंचवर्षीय योजनाएं आदि के नए परिवर्तित तरीकों ने जातिभेद के अवरोधों को कम कर दिया, ऐसा लगने लगा। परन्तु यथार्थ में हिन्दुओं के अन्दर अछूतों और अनुसूचित जातियों को एक दूसरे ही प्रकार की दासता या गुलामी देने की प्रक्रिया आरम्भ हो गई थी।

वास्तव में इस देश में वर्णव्यवस्था है। जाति-व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज का बहुत बड़ा हिस्सा दुःख भोगने के लिए विवश किया गया है। अपने अधिकारों से वंचित किया गया है। इन्हीं विसंगतियों को दूर करने के लिए समाज में समानता एवं बंधुत्व स्थापित करने के लिए अपना अधिकार पाने के लिए दलित साहित्य की रचनाएं की जा रही हैं।

अखिल भारतीय स्तर पर इस तरह साहित्य की रचना की जा रही है। हिन्दी में दलित साहित्य की अपनी एक अलग पृष्ठभूमि रही है। वर्तमान हिन्दी दलित साहित्य के उभरने पर साहित्यिक में हलचल होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि एक नए मापदंड के साथ एक नए प्रतिमानों के साथ एक नई प्रकार की भाषा-शैली आदि के साथ इसका आगमन हुआ।

दलित साहित्य सच का साहित्य है और झूठ को यह नकारता है अतः यही इसकी रीढ़ भी है। जहाँ तक बाधाओं की बात है ब्राह्मणवादी मानसिकता, सोच परम्परा, भाषा, शैली दलित साहित्य की बाधाएं हैं। दलित साहित्य का लक्ष्य वही है यानी समाज को अस्वस्थ बनाने वाली प्रथाओं तथा परम्पराओं को नकारते हुए सभी को सम्मान का जीवन मिले। इस तरह से दलित साहित्य संकीर्ण नहीं है। इसका विषय विस्तार असीम है। यह हर उस आदमी की बात कहता है जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से शोषण का शिकार है।

वास्तविक रूप में अगर कहा जाए तो दलित साहित्य सच कहने, लिखने का साहित्य है। परंपराओं तथा रीति-रिवाजों को झुठलाते हुए उन्हें ठोकर लगाता है जिनके चलते हुए दलितों ने अपना जिनदगी जी थी। दलित साहित्य समाज को स्वस्थ बनाने पर बल देता है। वह परिवर्तन चाहता है। इसीलिए समाज के लिए यह हितकर है। दलित साहित्यकार पाठकों को कल्पना के झूठे आकाश में नहीं ले जाता, बल्कि यथार्थ की जमीन पर रखते हुए उसे समाज की सच्चाई से रूबरू कराता है।

दलित साहित्य संकीर्णता का साहित्य नहीं है। यह कोई नया वर्णवाद नहीं गढ़ रहा है। विखण्डन की जगह सम्यकता अथवा संपूर्णता इसका आदर्श है। दलित चेतना एक दृष्टिकोण का परिचायक है। यह दृष्टिकोण करुणा, भाईचारे और समानता का दृष्टिकोण है। यही निम्नवर्गीय प्रवृत्ति है। जिन राष्ट्रों ने औपनिवेशिक दासता झेली है और जिन सामाजिक समूहों को

सामंती-वर्णवादी पीड़ा झेलनी पड़ी है उन्हें सामाजिक-राजनीतिक अन्तरसम्बन्धों की ज्यादा मानवीय व्याख्या की है। दलित लेखन, साहित्य की निम्नवर्गीय अभिव्यक्ति है और यह हर तरह की संकीर्णता का निषेध चाहता है।

दलित साहित्य ने हिन्दी के समान्तर और बाद में जनवादी साहित्य की परम्परा को आगे बढ़ाया है। पीड़ित, शोषित, दलित समाज की मौन व्यथा को मुखरित करने के लिए ही दलित साहित्य का सृजन हो रहा है। यह हर्ष का विषय है कि दलित साहित्य अपनी विद्रोहात्मक भूमिका के साथ, साहित्य क्षेत्र में उदित हो गया। अपने आवेग और प्रवेग के साथ पथानुगमन करते हुए दलित साहित्य का आन्दोलन प्राथमिक दौर की उच्छृंखलता त्याग कर शनैः-शनैः प्रौढत्व की ओर अग्रसर हो रहा है।

दूसरी बात यह है कि प्रस्थापित सामंती साहित्य के क्षेत्र में दलित साहित्य की भाषा को लेकर जो खलबली मची हुई है, वह महत्वपूर्ण और विचारणीय है। चाहे कविता हो, कथा हो, आत्मकथा हो, संस्मरण हो अथवा अन्य कोई विधा हो, सभी में नयी शब्दावली, वाक्य विन्यास, कहावतें, मुहावरे यहां तक कि भाषा का पारम्परिक कलेवर ही बदल गया है। साहित्य के लिए यह दुनिया नई है।

हिन्दी दलित साहित्य का दायरा और वैचारिक आधार कबीर रैदास से जुड़ा है। दलित कवि, साहित्यकारों ने इसी परिवेश और वातावरण में अपनी आँखें खोली, साँस ली और जीने की कोशिश करते रहे। अब तक सवर्ण साहित्य की भाषा घर की उस गृहणी की तरह थी जिसको सुवर्णाभूषणों से अलंकृत कर सुन्दरतम परिधानों से सजाकर घर की चारदीवारी में कैद कर लिया गया था। उसके सौन्दर्य पर अभिभूत होकर, मुग्ध होकर उसका भोग किया जा रहा था। दलित साहित्य और विशेषतः इसकी ऊबड़खाबड़ खुरदरी भाषा ने ये तमाम पारम्परिक रूपक तोड़ डाले और अपने यथार्थ रूप में बिना किसी आवरण के सामने आईं।

दलित साहित्य की उपलब्धियां एवं हिन्दी/मराठी और भारतीय भाषाओं की साहित्य को देन अन्य शब्दों में संक्षेप में इस प्रकार रखी जा सकती है।

1. वर्ण्य विषय वस्तु की नाविण्यता एवं अभिव्यक्ति।
2. जन-जीवन को चित्रण के साथ जन भाषा का प्रयोग।
3. नवीन सौन्दर्यबोध का निर्माण।
4. नाटक के क्षेत्र में नाविण्य (दलित थियेटर का निर्माण)
5. 'संस्मरण' की प्रथम बार नवीन रूप में अभिव्यक्ति।
6. 'आत्मकथा' का नया सौन्दर्यशास्त्र।
7. काव्य में शिल्प, बिम्ब, प्रतीक एवं नये मुहावरों की प्रस्थापना।
8. दलित साहित्य में नये सौन्दर्यशास्त्र की स्थापना।

हिन्दी का दलित साहित्य, हिन्दी साहित्य की मुख्य-धारा से अलग अपनी पहचान बनाते हुए विकसित हो रहा है। उसमें अभी कला की कमी तो है लेकिन उसमें भावनाओं की जो सच्चाई है उसकी उपेक्षा करना एक बहुत बड़े जनसमुदाय के आवाज की उपेक्षा करना है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि हिंदी का दलित साहित्य मराठी के दलित साहित्य से प्रभावित है। अगर यह सच भी है तो उसमें बुराई क्या है? क्या हिन्दी उपन्यास पर बंगला उपन्यास का असर नहीं पड़ा है? क्या हिन्दी की छायावादी कविता पर रवीन्द्रनाथ की छाया नहीं रही है? और क्या हिन्दी की प्रगतिशील कविता दुनिया भर के प्रगतिशील कवियों से प्रेरणा नहीं लेती रही है? ऐसी स्थिति में अगर हिन्दी के दलित लेखक मराठी के अपने अग्रज दलित लेखकों से प्रेरणा लेकर अपनी जिन्दगी की वास्तविकताओं और समस्याओं को नए ढंग से व्यक्त कर रहे हैं तो इसमें आश्चर्य और एतराज की क्या बात है? मुझे लगता है कि हिन्दी के दलित साहित्य पर

तरह-तरह के आरोप लगा कर उसे खारिज करने के बदले उसको ठीक से समझने और पहचानने की जरूरत है।

दलित साहित्य को दो रूपों में देखा जा सकता है। एक तो दलितों द्वारा दलितों के बारे में दलितों के लिए लिखा गया साहित्य और दूसरा दलितों के बारे में गैर दलित लेखकों का साहित्य। मेरा मत है कि सहृदयता, करुणा और सहानुभूति के सहारे गैर दलित लेखक भी दलितों के बारे में अच्छा साहित्य लिख सकते हैं और लिखा भी है। लेकिन सच्चा दलित साहित्य वही है जो दलितों द्वारा अपने बारे में या सवर्ण समुदाय बारे में लिखा जाता है, क्योंकि ऐसा साहित्य के सहानुभूति से नहीं बल्कि स्वानुभूति से उपजा होता है।

भारतीय साहित्य में नवीनतम एवं अनुपम बदलाव के रूप में जो साहित्य उभर कर हमारे सामने आया है वह है दलित साहित्य। दलित साहित्य के विकास से अनेक रूपों में हिन्दी साहित्य का भला होगा। पहली बात तो यह है कि हिन्दी समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा, जो पहले बेजुबान था, अब अपनी भावनाओं और समस्याओं को पूरी सच्चाई और तीव्रता के साथ सामने रखेगा। दूसरी बात यह कि हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा जिस तरह मध्य वर्ग की जिन्दगी की समस्याओं और अकांक्षाओं के बाड़ों में सिमटकर निर्जीव और निष्प्राण हो रही है, वह दलित साहित्य के सामने आने पर व्यापक जनजीवन वह से जुड़ने की कोशिश करेगी। तीसरे स्तर पर हिन्दी साहित्य की भाषा में भी एक सार्थक मोड़ आयेगा और जो भाषा आजकल शहरी मध्यवर्ग की भाषा तक सिमट गयी है, वह व्यापक जनजीवन की भाषा या बोलचाल की भाषा से जुड़कर अधिक प्राणवान बनेगी। चौथे स्तर पर मुझे यह भी लगता है कि आज का हिन्दी साहित्य जितना पश्चिम की ओर देखता है उतना इस देश के गांवों तथा शहरों के शोषित समुदाय की ओर तो और भी नहीं। हिन्दी साहित्य की इस पश्चिमोन्मुखी प्रवृत्ति के सामने दलित साहित्य एक चुनौती के रूप में होगा, जो हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा के संवेदनशील रचनाकारों के इस देश की व्यापक जनता से जुड़ने की प्रेरणा देगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. प्रेमशंकर, अंबेडकरवाद, पृ. 22.
2. सम्पादन, मुई मैक्स मूलर, कास्ट, मद्रास, 1890, पृ. 1.
3. कास्ट टुडे वाया जिनकिन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, रीप्रिंट 1965, पृ. 1.

सहायक ग्रंथ सूची

1. ले. इंद्र विद्यावाचस्पति, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त, सं. 1956, आत्माराम एंड संस, दिल्ली-6.
2. मार्क्स, 'हिंदुस्तान में ब्रिटिशराज', रजनी यामदत्त आज का भारत, पहली आवृत्ति, 1948.
3. डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन, डॉ देवेंद्र चौबे - चिंतन की परम्परा और दलित साहित्य, नवलेखन प्रकाशन 2001, हजारी बाग (बिहार)।